पण्डितों से एतराज किया तो वे लोभी पण्डित बोले कि यदि वे सौ-सौ रूपए दें तो उनके पक्ष में भी जितने चाहें हस्ताक्षर करवाए जा सकते हैं मगर विरजानन्द जैसे आत्मवेत्ता ऋषि तो पक्ष-विपक्ष की हार-जीत के लिए नहीं बल्कि सत्य और असत्य का निर्णय करने-कराने के लिए ही शास्त्रार्थ करने के पक्षधर होते हैं।

दण्डी स्वामी जी इस घटना से बहुत चिन्तित हुए। उनकी चिन्ता थी कि काशी, मथुरा तथा आगरा आदि के सभी पण्डित धन के लालच में आकर असत्य के साथ समझौता करने वाले हैं। कोई भी सत्य की साक्षी देने के लिए उद्यत नहीं। अन्ततः उन्हें अपने कथन की साक्षी अष्टाध्यायी के सूत्र **'कर्तृकर्मणोः कृत'** (2-3-65) में प्राप्त हुई। चिन्तन करने पर उन्हें निश्चय हुआ कि उनकी उपर्युक्त षष्ठी तत्पुरूष समास सम्बन्धी मान्यता महर्षि पाणिनि के इस सूत्र की सही व्याख्या पर आधारित है। दण्डीजी के हृदय में अष्टाध्यायी के प्रति श्रद्धा का बीजारोपण स्वामी अलवर प्रवास के समय भी उनकी पाणिनि के प्रति श्रद्धा थी और तब तक उन्होंने अष्टाध्यायी का कुछ अध्ययन अवश्य कर लिया था। उनके शिष्य वनमाली चौबे ने देवेन्द्रनाथ मुखोपध्याय के नाम पत्र में लिखा था कि मथुरा में पाठशाला खोलते समय स्वमी विरजानन्द जी सामान्य भाव से अष्टध्यायी पढ़ाया करते थे। सन् 1845 में जब वे मथुरा पधारे तो **सर्वप्रथम** उन्होंने गुजरमल की कोठी पर विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया मगर वहाँ वे केवल डेढ़-दो महीने से अधिक नही ठहरे। उसके बाद वे गतश्रम नारायण मन्दिर के व्यवस्थापक प्रसादीलाल आचार्य के अनुरोध पर उस मन्दिर में चले गए। इस मन्दिर में खोली गई पाठशाला दो महीने की चली। उसके बाद दण्डी जी पाठशाला उठाकर निकट ही कंसखार पर केदारनाथ खत्री